

उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद: सांस्कृतिक परिदृश्य, तकनीकी एवं जनसंचारिकी

प्रो० राम प्रकाश द्विवेदी

भीमराव अम्बेडकर महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

E-mail: ram.dwivedi@bramb.du.ac.in [M:+91-9868068787]

About the Author

Prof. Ram Prakash Dwivedi is associated with Dr. Bhimrao Ambedkar College, University of Delhi, India. He has been to Tokyo University of Foreign Studies, Tokyo, Japan, as a Visiting Professor. His key areas of research are post-postmodernism, cinema, and communication studies, as well as the language and literature of Hindi. He has been awarded fellowships and also writes short-stories and poems. There are several books and research papers to his credit.

Note in English

Digital technologies have become a dominant tool in shaping the contemporary cultural and public sphere. Alan Kirby and a few other thinkers began to draw the attention of academics towards this changing phenomenon in the year 2007. The researcher finds that these technologies have posed a potential threat to the very existence of human beings; their creativity, intellect, and emotional relationships. Artificial intelligence, algorithms, filter bubbling, robotics, metaverse, and other related techniques are continuously challenging the privacy, understanding, and behaviour of individuals and social order in everyday life. The role of languages and literature in society is weakening and "truth" is being replaced by "post-truth" through the vast use of communication media, cryptocurrencies and dark web.

शोध सार

उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद मनुष्य के विवेक, चिंतनशीलता, स्वातंत्र्य, सत्य एवं सृजनात्मकता पर तकनीक और उसके नियंत्रकों के आधिपत्य को स्थापित करने वाली ऐसी स्थिति है जो कृत्रिम मेधा, यंत्र-शिक्षण और फिल्टर बबल जैसी संचार प्रणालियों का सशक्त उपयोग कर उसके वास्तविक अस्तित्व को निगलने का प्रयास कर रही है। सॉफ्ट पॉवर, उत्तर-सत्य कथनों, मिथ्या चुनौतियों, छद्म आत्मतोष की पद्धतियों को प्रसारित एवं लोकप्रिय बनाकर भ्रामक समाजिक सशक्तिकरण और मानव ऊर्जा के अनुपयोगी प्रयोगों को बढ़ावा दिया जा रहा है। क्या उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद के कृत्रिम जाल से बुनी सृष्टि की सूचना, संस्कृति, तकनीक से चौतरफा घिरा मनुष्य अपने वास्तविक विवेक, आनंद एवं जीवन-शैली का पुनराविष्कार कर पाने में सक्षम हो सकेगा? या फिर, यह छद्मवादिता ही उसकी नियति बनेगा? यह परिस्थितियाँ कैसे बनीं और इनके बीच मनुष्य का भविष्य क्या होने वाला है; इसका अन्वेषण इस शोध-आलेख में करने का प्रयास किया गया है। वैज्ञानिक विकासवाद से उपजे संकटों और मिथ्या अवधारणाओं के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास भी इस आलेख में हुआ है।

कूटशब्द-उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद, संस्कृति, तकनीक, जनसंचार।

शोध आलेख

I.

प्रस्तावना

उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद अनिवार्यतः आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद से संदर्भित पद, वाद, अवधारणा, सिद्धांत अथवा विमर्श है। इस अर्थ में यह कालक्रमिक भी है और विभिन्न क्षेत्रों में आई तब्दीलियों की शिनाख्त करता है; जिसमें-तकनीक, जनसंचारिकी, कृत्रिम-विवेक से जन्मा मनोविज्ञान, मशीनीकृत मानव, संस्कृति, बाजार, राजनीति, आर्थिकी, शहरीकरण, पर्यावरण, सिनेमा, साहित्य, कला, स्थापत्य, संगीत, शौर्य संदर्भों और सूचना-प्रवाह आदि क्षेत्रों में घटित एवं लक्षित किए गए अनेक प्रकार के परिवर्तन समाहित हैं। इनका ही विकास, हमें-उत्तर-सत्य की कथन भंगिमाओं, प्रपंचवादी मीडिया तंत्र, मोहक एवं क्षणभंगुर वायदों, बाजार के भीतर थिरकती पूँजी, स्नायविक हलचलों, सत्याभासों,

भाषाई कूटों की उलझनों तथा खलित होती हुई स्मृति-के रूप में देखने को मिलती है। इसने यह भी जरूर किया है कि जो उत्तर-आधुनिकतावाद की निराशा, निरुद्देश्यता, अंतवाद और नकारवाद था; उसके भीतर से एक सकारात्मक मूल्य-प्रणाली निर्मित करने का उद्यम भी रचा है। यह परिस्थिति सशक्तिकरण के एहसासों और जज्बातों की पुनर्वापसी का मार्ग प्रशस्त करती दीखती है। निश्चित ही, यह 'सकारात्मकता' एवं 'शक्तिमत्ता' प्रश्नांकित की जा सकती हैं और संदेहपरक भी हैं। अनेक अवधारणाओं की तरह यह अवधारणा या आंदोलन अथवा विचार भी पश्चिमी देशों में बहस के केंद्र में आया हुआ है जिसकी आरंभिक सुगबुगाहट ही भारत में सुनाई दे रही है। यहाँ इसके सरलतम परिपार्श्व उभारने का प्रयास किया गया है तथा कुछेक लोकप्रिय उदाहरणों के माध्यम से मत को स्पष्ट करने का प्रयास है। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद की जटिलताओं और उसके हेतुओं को समझने के लिए किस संज्ञापद का इस्तेमाल हो, यह भी संदेहग्रस्त है। फिलहाल इसके लिए 'पद', 'अवधारणा', 'वाद' अथवा 'सिद्धांत' या 'विमर्श' में से किसी एक शब्दावली; अन्यथा सभी का प्रयोग कर, काम चलाना पड़ेगा। वास्तव में देखें तो यह इनमें से यह कुछ भी नहीं है। 'पद' कहने से अपर्याप्ता का बोध होता है और 'अवधारणा', 'वाद' अथवा 'सिद्धांत' आधुनिकतावाद की जद में ठहरे हुए शब्द हैं जिनका इस्तेमाल उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद की पूरी रौनक को निगल लेता है। 'विमर्श', उत्तरआधुनिकतावाद की सीमा में कैद किया जा चुका है जिसमें 'शक्ति का खेल' और उसकी 'लीला' निरंतर सक्रिय रहते हैं। यह 'पैराडाइम शिफ्ट' या 'फेनोमेना' भी कैसे कहा जा सकता है? जहाँ परिवर्तनों को परिलक्षित व पहचान कराने वाले उपकरण सीधे और स्पष्टता के साथ उपस्थित होते हैं। दरअसल, उत्तर-उत्तरआधुनिकतावादी विचारक एलन किर्बी [1] ने इसे डिजीटलपरक तकनीकों की छाया में उभरते आभासी विश्व-जिसने हमारी परिपाटियों, संस्कारों की चूले हिला कर रख दी हैं-के संदर्भ में व्याख्यायित करने का उद्यम किया और इस परिघटना को दृष्टिगोचर करते हुए वे इसे 'डिजीमॉडर्निस्म' पदावली से अभिषिक्त करते हैं। इसी प्रकार, एरिक गेन्स [2] ने उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद को 'इतिहास के दर्दभरे अनुभव से छुटकारे' के रूप में पहचानने का प्रयत्न किया है। देखें तो उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद मानव-सभ्यता के एक ऐसे पड़ाव के रूप में आभासित होता है जो पिछली सभी स्थितियों से भिन्न है। लिंडा हचेंस ने अपने शोध आलेख [3] और पुस्तक [4] में उत्तर-आधुनिकता के अवसान की घोषणा कर नई उभरती

परिस्थितियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। वर्मिलियन एवं अक्कर [5] जैसे विद्वानों ने उत्तर-उत्तरआधुनिकता को आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता के बीच दोलायमान मनोदशा के रूप चिह्नित करने का उद्यम किया है। जो भी हो; उत्तर-आधुनिकता कुछ तो थी, जिसका समापन हुआ और दुनिया उससे आगे आ चुकी है।

II. आधुनिकता, उत्तरआधुनिकता और उत्तर-उत्तरआधुनिकता

आधुनिकता [6] ने, एक ओर औद्योगिक क्रांति [7] से मानव इतिहास में वस्तुओं का अंबार खड़ा कर दिया तो दूसरी ओर प्रबोधन [8] के जरिए विराट जीवन-मूल्यों की प्रस्तावना से संश्लिष्ट संस्थानों का ताना-बाना निर्मित किया। औद्योगिक क्रांति के वैज्ञानिक आविष्कारों की चरम परिणति अणुबम [9] के रूप दिखी और आज यह हमारे सर पर भूत की तरह मंडरा रहा है। प्रबोधन की प्रेरणा से खड़ी हुई संस्थाएँ-लोकतंत्र, न्यायपालिकाएँ, विधायिकाओं-ने अपने कर्तव्यों का निष्पादन सटीक ढंग से नहीं किया। परिणामतः उत्तर-औद्योगिक समाज [10] से उठी तीसरी लहर [11] ने विचारधारा के अंत [12], लेखक की मृत्यु [13], इतिहास के अवसान [14] की घोषणा कर समस्त अभिव्यक्तियों एवं भाषिक पाठों को विखंडनवाद [15] के दायरे में लाकर खड़ा कर दिया। अर्थ-ग्रहण एक विमर्श [16] भर रह गया। दूसरे विश्वयुद्ध से पैदा हुई निराशा, हतभाग्यता ने ऐसे माहौल को जन्म दिया जिसे 'उत्तर-आधुनिकता' [17] कहा गया।

उत्तर-आधुनिकता ने विज्ञान, ज्ञान, लोकतंत्र जैसी शासन प्रणाली समेत मानव-सभ्यता द्वारा आविष्कृत मूल्यों को संदेह के घेरे में पटक दिया। जरूरत और उत्पादन के संबंध बिखरने लगे। कृत्रिम जरूरतों का एक सुचिंतित मनोविज्ञान निर्मित करने के लिए ताकतवर विज्ञापनों के निर्माण हुए और सूचना-तंत्र में प्रोपेगंडा की गहरी घुसपैठ हो गयी। उत्तर-आधुनिक युग में मीडिया पर पूँजीवादी आधिपत्य ने उसके निहितार्थों को विकसित कर दिया। इसी प्रकार वैज्ञानिक शोध, चुनाव-प्रणालियों एवं मानवाधिकारवादी प्रतिष्ठानों पर भी चुनिंदा लोगों ने वर्चस्व बना लिया। आयुध अस्त्रों का निर्माण, प्रकृति के आर्थिक दोहन, पर्यावरण के विरूपण, संसाधनों के असमान वितरण, शीत-युद्ध के तनाव ने नई परिस्थितियों के बीच मनुष्य को एक असमंजस के बीच खड़ा कर दिया था। इस असहायता-बोध ने बौद्धिक मन को उद्वेलित कर उसमें हलचल पैदा की और ज्ञान की उपलब्ध प्रणालियों के प्रति संशय पैदा कर दिया। उत्तर-आधुनिकता का अंतवादी परिदृश्य इन्हीं परिस्थितियों का

परिणाम था। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद ज्ञान और जीवन-संघर्ष के लिए नई आशा की तलाश का उपक्रम है।

इसके शुरुआती चिह्न नब्बे के दशक में परिलक्षित होते हैं, जब नगर स्थापत्य में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले और टॉम टर्नर [18] जैसे अध्येयताओं, शोधार्थियों, शिक्षाविदों और विचारकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद के मुख्य चिंतकों में टॉम टर्नर, एरिक गैस, एलन किर्बी, मिखाइल एप्सटीन, वर्मिलियन और अक्कर जैसे विचारकों तथा डेबी फ़ॉस्टर वैलेस एवं लिंडा हचेन आदि जैसे रचनाकारों, आलोचकों का नाम लिया जा सकता है।

III. संस्कृति का उत्तर-उत्तरआधुनिक परिदृश्य: भाव, भवन एवं तकनीकी वर्चस्व

संस्कृति [19] मनुष्य की विशिष्ट उपलब्धि है, जिसे उसने प्रकृति से संघर्ष कर अर्जित की है। अपने अस्तित्व को आनंददायी बनाने के सारे मानवीय उपक्रम संस्कृति के अंतर्गत रखे जा सकते हैं। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए मानव-जाति ने जहाँ भौतिक वस्तुओं का निर्माण किया वहीं भावों, विचारों और कल्पनाओं के सहारे अमूर्तन उत्पाद भी बनाएँ। कला, साहित्य, संगीत और नाटक रच कर मनुष्य ने अपने मानसिक तोष का उद्यम किया। इसलिए शारीरिक एवं मानसिक आनंद के आविष्कार के लिए वर्षों प्रयत्न कर वह आज इस मुकाम तक पहुँचा है। सभ्यता-संस्कृति की इस जय-यात्रा में उसके अनेक पड़ावों को अनुसंधानकर्ताओं ने सहज ही लक्षित किया है। देखने की बात यह है कि इस गतिमान प्रक्रिया में संस्कृतियाँ कैसे आकार लेती रही हैं और उनका हमारे भावबोध पर क्या प्रभाव घटित हुआ है? साहित्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला और नाटक आदि कुछेक आदिम रचनात्मक उपक्रम में मनुष्य के श्रम और प्रकृति-प्रदत्त संसाधनों की महती भूमिका रही है। आधुनिक युग ने मानवीय श्रम पर निर्भरता कम की और प्राकृतिक संसाधनों को शोधित-परिष्कृत कर उनको अधिक सक्षम उत्पादों के तौर पर विकसित किया। आधुनिक युग की भवन-निर्माण कला, साहित्यिक मुद्रण, संगीत के वाद्ययंत्रों और प्रेक्षागृहों में आए परिवर्तनों को सरल उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है। इनका असर हमारी संस्कृति के गठन पर भी दिखा और एक नए मनोविज्ञान का जन्म हुआ। आधुनिक युग की सांस्कृतिक संरचना औद्योगिक क्रांति से पैदा हुए ज्ञान एवं उत्पादों पर टिकी है। जिसे, बाद में उत्तर-आधुनिक विमर्शकारों ने प्रश्नांकित किया और इसकी उपलब्धियों को लगभग निस्सार-सा घोषित कर दिया। दरअसल आधुनिक युग के सांस्कृतिक संगठन में पूँजी और उससे जुड़े

तंत्र ने एक बड़ी एवं वर्चस्वशाली भूमिका का निर्वाह किया [20]। परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता, जलवायु परिवर्तन, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और दो विश्वयुद्धों का महाविनाश मानव-सभ्यता ने देखा है। पूँजी आधारित संस्कृति ने साहित्य, नाटक, चित्रकला, संगीत, फ़िल्म, नगर स्थापत्य, चिकित्साशास्त्र, मूर्तिशिल्प, विमानिकी, फैशन, यातायात, अंतरिक्ष अन्वेषण जैसे अनेक क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। मानव रचनाशीलता पूँजीवाद के उपकरणों के आलंबन के बिना अपने पंख फैलाने में निष्फल होने लगी। कंसर्ट, सिनेमा, शुभंकर कलाएँ, चित्रकला, प्रदर्शनियों की प्रस्तुति एवं प्रभाव के आकलन के नए पैमाने तय हुए। मुद्रण तकनीकों ने प्रिंट सामग्री को आकर्षक रूपों में पेश कर अपने अस्तित्व को बचाए रखने का उद्यम किया। बदलती हुई सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में पूँजी की उपयोगिता बढ़ती गई जो संसाधन एवं पर्यावरण के दोहन पर टिकी थी। विकास का ऐसा मॉडल तैयार हुआ जिसने सुविधाएँ अधिक पैदा की या समस्याएँ ज्यादा; यह कहना कठिन हो गया। इस युग की अनेक महान उपलब्धियाँ रही हैं, लेकिन साठ का दशक आते-आते वे बौद्धिक मनीषा को गैर-आकर्षक, त्रासकारी और संकटदात्री लगने लगी। इसी सोच ने उत्तर-आधुनिकता के 'अंतवाद' का सूत्रपात किया था।

शहरों और भवनों की निर्माण योजना भी दुनियावी परिदृश्य के बदलाव को रेखांकित करने और उसके बदलाव को पहचानने का एक सशक्त औजार है। आगे, इस परिवर्तन को एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। इसके लिए, आमेर का किला [21]-उदाहरणतः-लिया जा सकता है, जो मध्यकाल में एक अभेद्य दुर्ग और भव्यता का प्रतीक था। लेकिन, आधुनिक काल में यह मात्र एक ऐतिहासिक धरोहर के रूप में प्रसिद्ध है। उत्तर-उत्तरआधुनिक काल ऐसी ही तमाम ऐतिहासिक धरोहरों को एक पर्यटन केंद्र के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। डिजिटल मीडिया के माध्यमों से हमारे समक्ष इसकी तस्वीरें प्रस्तुत होती रहती हैं। किले का मूल उद्देश्य जिसमें नगर सुरक्षा, राज्यगर्व एवं गौरव, समृद्धि का प्रदर्शन (मध्यकाल) एवं ऐतिहासिक महत्व (आधुनिक काल) आदि था-अपनी सार्थकता समाप्त कर चुका है। आधुनिक काल की इमारतों के निर्माण में कंक्रीट के साथ लोहे और स्टील-जो औद्योगिक क्रांति के उत्पाद थे-का प्रचलन बढ़ गया था। नगर नियामकों ने इसे सुरक्षा और मज़बूती के नजरिए से संजोया था। उत्तर-आधुनिकता के कालखंड में विधि-कानून और पुलिस का प्रभावशाली तंत्र विकसित हुआ। वैश्विक शांति के महत्त उपाय किए गए और युद्ध के खतरे आर्थिक प्रतिस्पर्धा में तब्दील हुए। इसने नगर-योजना और उसके स्थापत्य को भी परिवर्तित कर दिया। लोहे-स्टील

के साथ ग्लास कदम-ताल करने लगा। भवन अधिक पारदर्शी हो चले, उनका क्षैतिज विस्तार अब लम्बवत खड़ा हो गया। उत्तर-उत्तरआधुनिकता ने इन भवनों के भीतर भवन बनाए-एक वर्चुअल स्पेस निर्मित कर दिया। यह स्पेस की चुनौती से जूझने का सबसे कारगर उपाय था।

दुनियावी बदलाव की तेज होती गति उत्तर-उत्तरआधुनिकता की पहचान है। जिसमें इतिहास, परंपराएँ, आदर्श और इमारतें और शौर्य-गाथाएँ अपनी-अपनी मूल भूमिकाओं का परित्याग करने को विविध हुई हैं। घर तकनीकी उपकरणों से भर गए। वे हमारे सिरहाने, बिस्तर और रसोई में सबसे ताकतवर उपस्थिति देने लगे। मानव संवेदना का विकल्प तैयार हुआ जिसे आज 'एलेक्सा' जैसे तमाम उपकरणों एवं 'रोबोटिक्स' में देखा जा सकता है। यहीं एलन किर्बी नामक चिंतक हमारे सामने आते हैं जिन्होंने उक्त उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद के लिए डिजीमॉडर्निज्म शब्द का सृजन किया। उनका बल डिजिटल तकनीक के बर्चस्व पर है और वह इसे ही उत्तरआधुनिकता और उत्तर-उत्तरआधुनिकता में एक महत्वपूर्ण विभाजक के रूप में प्रस्तावित करते हैं। यानी उत्तर आधुनिकता और उत्तर-उत्तरआधुनिकता के बीच के अंतर को रेखांकित करने के लिए डिजिटल तकनीक एक बड़ा कारक है। यह मानवीय चेतना को छूने के कगार तक पहुँच चुकी है। मानव सभ्यता के इतिहास में बहुत शुरुआती दिनों से शौर्य के महिमा-मंडन की परिपाटी मिलती है। जो कमोवेश आज भी दिखाई देती है। शौर्य-गाथाएँ; साहित्य और कलाओं का उपजीव्य रही हैं। आज युद्ध में मनुष्य की भूमिका न्यूनतम होती चली जा रही है। युद्ध और शौर्य एक तकनीकी-मशीनी उपक्रम बन रहे हैं। रोबोट, ड्रोन और बायो तथा केमिकल जैसे प्रछन्न चारफेयर इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। इनके चलते शौर्य-गाथाएँ गरीब मुल्कों का शगल बनकर रह गयी हैं। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद ने मानवीय भावबोध को नए सिरे से रूपायित करने का बीड़ा उठा लिया है, जिससे संवेदना को पुनर्परिभाषित करने की ज़रूरत आ पड़ी है।

IV. जनसंचारिकी से निर्मित उत्तर-उत्तरआधुनिकतावादी संस्कृति

विकसित देशों में-संस्कृति-व्यक्ति के स्वातंत्र्य, समाज और सत्ता के साथ उसका व्यावहारिक रिश्ता तथा नागरिक अधिकार की भावना पर टिकी होती है जबकि विकासमान देशों में यह यश कामना, मोह और भावुकता पर आधारित होती है। संस्कृति; जीवन को पालतू बनाने का उद्यम एवं प्रक्रिया है। विज्ञान के अभाव वाले दिनों में इसका स्वरूप दार्शनिक था। आधुनिक काल में यह भौतिक जीवन, रोटी, कपड़ा,

मकान और सुरक्षा के उपकरणों की तलाश से जुड़ गया है। माइक्रोवेव ओवन, रेफ्रिजरेटर, वॉशिंग मशीन और टेलीविज़न जैसे उपकरणों ने ही व्यक्तिवादी शहरी जीवनशैली को जन्म दिया जिससे मनुष्य अपने सभी दैनिक कामों को ज़्यादा सरल तरीके से संपन्न कर सकता था। इससे पारिवारिक कार्य-विभाजन की प्रचलित निर्भरता गैर-ज़रूरी हो गयी। सामाजिक निर्भरता से आजादी उत्तर आधुनिक परिघटना है जो कि जो प्राचीन आत्मखोज से भिन्न है इसका स्वरूप भौतिक एवम् सांसारिक है। इसी से, उत्तर आधुनिकतावाद की विडंबना पैदा हुई। यह वैश्विक गाँव ही नहीं गाँव का वैश्विक हो जाना भी है। बनारस का पान और लखनऊ के टुंडे कबाब का एक्सपोर्ट होना वो भी ऑनलाइन ऑर्डर के ज़रिए इसी घटना को दिखाता है और आधुनिक काल में भोजन भूख मिटाने की ज़रूरत तो है पर उत्तर आधुनिक काल में यह एक डिजिटल छवि भी है जिसका संप्रेषित होना भी ज़रूरी है और कई बार; संप्रेषण ही मुख्य है। आधुनिक काल की मूल्य आधारित संस्कृति उत्तरोत्तर अप्रसांगिक साबित होती चली गई है। संस्कृति अतीत के अनुभवों और भविष्य के सपनों से आकार ग्रहण करती है। इसलिए, संस्कृति स्मृति भी है और स्वप्न भी। इन दोनों तक हमारी पहुँच सुनिश्चित करने का कार्य कर रहा है-जनमाध्यम।

मध्यकाल में स्मृति तो है पर उसे संसूचित करने का कोई साधन मौजूद नहीं था।

“रिमझिम दैवा मेहु बरीसे, पवन चलै पुरवाई रे।
कौने बिरिछ तरा भीगत हैहै, राम लखन दुनौ भाई रे।”

-अवधी लोकगीत

जनसंचारिकी के विकास के साथ स्मृति को कायदे से सूचित किया जा सकता है।

“मेरे पिया गए रंगून-वहाँ से किया है टेलीफून,
तुम्हारी याद सताती है।”

-पतंगा (फिल्म 1949)

यह संतुष्टि देती स्मृति है, जिसका बोध आधुनिक है। उत्तरआधुनिक युग संचार के पोस्ट-ऑफिस युग से इलेक्ट्रॉनिक युग की रुझान का युग है। जिसमें ई-मेल जैसी कंप्यूटर तकनीकों का विकास हुआ। उत्तर-उत्तरआधुनिकता बेब 2.0 तथा 3.0 की कुशलता से लैस होती जा रही है। जिसने सूचना के तुरंतपन को जन्म दिया। स्मृति का स्वरूप अब बदलने लगा। स्मृतियाँ बोझ बनने लगी और उनकी क्षणभंगुरता-अधिकता के चलते-भी स्पष्ट दिखने लगी। स्मृति; संस्कृति के रूपायन का महत्वपूर्ण घटक है। इसके परिवर्तित होते

स्वरूप को पहचानना सांस्कृतिक बदलाव को जानने के लिए जरूरी हो जाता है।

रोटी, कपड़ा, मकान, सुरक्षा, स्वातंत्र्य और सूचना, ये छः पहलू और सरोकार है जो मनुष्य की मौलिक जरूरतों के रूप में उभरे हैं। छठा बिल्कुल उतर-उत्तरआधुनिकता की देन है तथा इसकी पहचान का एक बड़ा कारक है। संचार के मॉडल को देखें तो शुरुआती बुलेट सिद्धांत से लेकर मैनुएल कैसल्स [22] के संदेश ही माध्यम है तक - स्रोत, संदेश, संप्रेषण पर बल दिया जाता रहा है। बीच में इसमें फीडबैक की धारणा भी जुड़ी और उसकी समस्या भी यही थी। सारा ज़ोर समुचित प्रभाव, सटीक संप्रेषण पर था पर बाद में यह बात थोड़ी जटिल हो जाती है। संप्रेषण के साथ इंटरेशन केंद्रीय भूमिका में आ खड़ा हुआ है। कथन-भाषित, लिखित, दृश्यांकित-का प्रसार हमेशा इसलिए नहीं किया जाता कि वह अपना वास्तविक आशय अथवा सत्य का प्रकटीकरण करें। बहुधा; सत्ताएँ, बाजार तंत्र और प्रभुत्व वर्ग कथनों का प्रयोग और उनका प्रसार एक आसन्न परिस्थिति के भीतर इसलिए करते हैं जिससे कि उसका लाभ सत्ता को पाने-बचाने, पूँजी की बढ़ोतरी तथा दबदबे को कायम रखने के लिए हो सके। आधुनिक कथनों का उद्देश्य या उनकी सार्थकता दीर्घजीवी होने में थी जबकि उत्तर-आधुनिक कथन की संदर्भित (pretext, text, context) होने में। उत्तर-उत्तरआधुनिक कथन प्रायः क्षणभंगुर होकर ही अमर होना चाहता है। वह मनुष्य के स्मृति-कोष में संचित होकर वक्ता-प्रयोक्ता के लिए पीड़ा, अपमान, असहायता का एहसास कराता रहता है। विज्ञापन और विज्ञापन अभियान, राजनेता, बाजार तंत्र संचार तो करना चाहते हैं पर वे ऐतिहासिक रूप से सुरक्षित नहीं होने की प्रबल इच्छा भी रखते हैं। ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में उपलब्ध बने रहना, उन्हीं के लिए एक समस्या खड़ी कर देता है। उदाहरणतः जब किसी उत्पाद को बेचा जा रहा होता है तब उसके साथ बहुत से वायदे-सेवा संबंधी गारंटी-वारंटी-किए जाते हैं। बाद में जब उपभोक्ता इनकी माँग करता है तब वे बोझ से महसूस होते हैं। तमाम राजनीतिक घोषणा-पत्र इस नजरिए से देखे जा सकते हैं। संचार का यह मॉडल जिसमें वक्ता वास्तविक रूप से संचरित ही नहीं होना चाहता उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद की विशिष्ट पहचान है। इस संदर्भ में आम लोगों, उपभोक्ता द्वारा प्रयोग किए गए कथन-अमरता की चाह, दीर्घजीवी होने की अभिलाषा लिए हुए होते हैं; पर वे निष्प्रभावी, प्रयोजनविहीन, मूल्यहीन एवं कुंठाभिक्त्त भर माने जाते हैं। हालाँकि ऐसा भी देखा गया है कि कुछेक अवसरों पर ये गुणहीन फुटेज मुख्यधारा के मीडिया की खुराक पूरी करते हैं। भारत के संदर्भ में

इसका ज्वलंत उदाहरण केदारनाथ पर बादल फटने और उससे हुई तबाही की आम लोगों द्वारा मोबाइल फोन से शूट किए गए फुटेज हैं। मुख्यधारा के मीडिया के पास इनका कोई विकल्प नहीं था; इस आपदा पर अपनी खबर बनाने के लिए वे इसी प्रकार की 'कूड' फुटेज पर निर्भर थे। गुणवत्ता की माँग आधुनिकता के केंद्र में थी जो लंबे सृजनात्मक समय की अपेक्षा रखती थी। उत्तरआधुनिकता के समय गुणवत्ता उपभोक्तावाद, क्षणभंगुरता और मुनाफाखोरी की शरण में चली गई। उत्तर-उत्तरआधुनिकता के कालखंड में फोटोग्राफी, फिल्म निर्माण, लेखन, डाक्यूमेंट्री आदि निर्माण पर एकाधिकार टूट जाता है। स्मार्टफोन के आने और आम लोगों का 'सोशल ट्राइब' में रूपांतरण गुणवत्ता की माँग बेहद कम कर देता है।

V. उत्तर-उत्तरआधुनिकता: मीडिया और साहित्य के अनुसंधित्सु

अनुसंधान की प्रथाएँ आधुनिक काल में वैज्ञानिक आग्रहों का परिणाम हैं। औद्योगिक उत्पादों के निर्माण और उनके परिष्करण में इनकी भूमिका असंदिग्ध है। धीरे-धीरे ये व्यावसायिक और विपणन के क्षेत्रों में भी अपना पैर पसारने लगीं। मुनाफा हासिल करना इनसे सीधे तौर पर जुड़ा था। सामाज-विज्ञान और मानविकी जैसे विषयों में इन प्रथाओं के अनुपालन की माँग बढ़ी परंतु वे सीधे तौर पर लाभ सुनिश्चित नहीं करतीं। वैज्ञानिक अनुसंधान, अपने उत्पादों द्वारा, जहाँ प्रत्यक्षतः मानव जीवन-शैली को प्रभावित करते हैं वहाँ सामाज वैज्ञानिक और मानविकीय शोध ऐसा कर पाने में विफल रहे हैं। भले ही वे प्रकारांतर से ऐसा कर रहे हों। भारत के संदर्भ में देखें तो मीडिया का इतिहास लगभग दो सौ वर्ष पुराना है, जिसमें आरंभिक डेढ़ सौ वर्ष प्रिंट माध्यमों के वर्चस्व का रहा है जो साहित्य को अपने उपजीव्य के तौर पर ग्रहण करते हुए मिशन मोड में सक्रिय दिखाई देता है। आजादी की आकांक्षा और समाज-सुधार के लक्ष्य को हासिल करना इसके परम कर्तव्य थे। टेलीविजन ने भारत में आजादी के बाद दस्तक दी। नब्बे के दशक में यह सबसे ताकतवर माध्यम बना। वर्तमान सदी के दूसरे दशक से यह अपनी चमक खोने लगा। आज अधिकांश टीवी चैनल इंटरनेट पर अपनी उपस्थिति दर्ज कर चुके हैं। इंटरनेट आधारित प्रसारणों ने पिछले दशक से अपनी पहुँच एवं प्रभाव को सुदृढ़ कर लिया है। एक समय तक इन्हें वैकल्पिक माध्यम के तौर पर देखा जाता रहा है लेकिन बाद में चलकर ताकतवर मीडिया-समूह आम प्रयोक्ताओं के संदेश को अपदस्थ कर, उन्हें हाशिए पर डालने में कामयाब रहे हैं।

संचार के सभी पुराने मॉडल उत्तर-उत्तरआधुनिकातावादी संचार प्रक्रियाओं को समझने में कोई मदद नहीं करते। उत्तर-सत्य और क्षणभंगुरता की आकांक्षा से प्रसित वर्तमान संचार प्रक्रियाएँ संदेशग्राही के समक्ष नई चुनौतियाँ पैदा कर रही हैं। वैचारिक विनिमय का कार्यात्मक प्रकल्प न बन पाने से एक हताशा का माहौल बनता है। वैचारिकता विकलांगता का यह अनोखा खेल एक निरर्थक निरंतरता में तब्दील हो जाता है जिससे वैचारिक उपक्रम निस्सार हो जाते हैं। साहित्य और मीडिया में प्रस्तुत विचार महत्त्वहीन होने के कारण उदासीनता के जनक बन जाते हैं।

मीडिया-तंत्र, पूँजीवाद की अतिशय चपेट में आ चुका है। प्रस्तुतिकरण की प्रक्रियाओं में इसे सहज लक्षित किया जा सकता है। यह छोटी-छोटी बेइमानियों से भरा हुआ है। टीवी की स्क्रीन इसका ज्वलंत उदाहरण है जो दर्शकों तक अपना कार्यक्रम पहुँचाते हुए बीच-बीच में स्क्रीन के एक-चौथाई हिस्से को विज्ञापन से भर देता है। नीचे टिकर पर समाचार के साथ विज्ञापित सूचनाएँ फेंक कर प्रस्तुत की जाती हैं। यानी जिस कार्यक्रम को देखने के लिए दर्शक टीवी पर आता है उसके साथ उसे अन्य सूचनाएँ जबरिया ढंग से दी जाती हैं। यह कार्यक्रमों के साथ दर्शक के तादात्म्य को भंग करने की उत्तर-उत्तरआधुनिकावादी प्रणाली है जिसमें गैर-वांछित सूचनाएँ सहज रूप धारण कर मन में ठेली जाती हैं। सोशल मीडिया मंचों पर भी इस प्रक्रिया को सहज पहचाना जा सकता है। ऊपर से देखने पर ये प्रयोक्ता को अपने पीयर समूह के बीच संदेशों के आदान-प्रदान का माध्यम बनते नजर आते हैं लेकिन सामान्यतः ये विज्ञापन के सहज माध्यम बना दिए गए हैं। एक निश्चित राशि लेकर ये मंच 'लोकप्रियता' का मिथ्या खेल रचने में कामयाब हो जाते हैं। जिन्हें 'लाइक्स' और 'फॉलोवर्स' जैसी संख्या में आंकने का छद्म पैमाना रचा गया है। प्रिंट मीडिया की भी दुर्दशा कम नहीं है। वह हमेशा अपने बासी रूप में ही पाठकों तक पहुँचता है और प्रायः दस-बीस मिनट में अपनी प्रासंगिकता समाप्त कर एक रद्दी में तब्दील होने को विवश है। संचार प्रणालियों की बहुलता एक दूसरे के लिए चुनौतियाँ बन जाती हैं और उसके प्रयोक्ताओं को विभाजित कर खंडित-विमर्शों का सृजन करती हैं। साहित्य के सर्जक एवं अध्येयता के लिए भी इन संचार-प्रणालियों ने गंभीर संकट उत्पन्न कर दिया है। सर्जक अपने संदेश के प्रसार के लिए इन पर निर्भर हो चला है और प्रमाता के पास रसास्वादन और साधारणीकरण के लिए अनिवार्य 'अवसर' लगभग समाप्तप्राय हैं। उदय प्रकाश की एक कविता (यह एकमात्र साहित्यिक अंश है, जो इस शोध-पत्र में उद्धृत किया गया है) का उदाहरण लेना समीचीन होगा- 'आदमी/मरने के बाद/कुछ नहीं

सोचता। आदमी/ मरने के बाद/कुछ नहीं बोलता। कुछ नहीं सोचने/ और कुछ नहीं बोलने पर/आदमी/मर जाता है।' इस कविता का भाष्य कैसे किया जा सकता है? कई प्रविधियाँ हैं जिनसे इस कविता का अर्थ निष्पादित किया जा सकता है। यह कविता अपने कलेवर में छोटी होने और मात्र कुछेक सामान्य शब्दों के अनुक्रम से आधुनिक मनुष्य की कसौटी को परिभाषित करती है। यह कसौटी है उसकी चिंतन और अभिव्यक्ति की क्षमता। उदय प्रकाश की इस कविता पर साम्यवादी बौद्धिक प्रभाव को भी देखा जा सकता है जो अभिव्यक्तियों को वर्ग-संघर्ष का लक्ष्य हासिल करने के लिए एक सशक्त और सजग औजार की तरह इस्तेमाल करने की वकालत करता है। कविता का तेवर जीवित और मृत मनुष्य की सहज तुलना प्रस्तुत कर 'सोचने' और 'बोलने' को जीवन के पर्याय के रूप में स्थापित कर देता है। पर, यह कविता बड़ी चतुराई से 'सोच की निर्मिति' और उसकी 'अभिव्यक्ति' के प्रश्नों को सामान्यीकृत कर देती है। क्या सोचें और क्या बोलें? इस का कोई औचित्य नहीं बताया गया। कुछ भी सोचने और बोलने से मनुष्यता सिद्ध नहीं होती। सोचने की प्रक्रिया को अनेक शक्तियों ने संदिग्ध बना दिया है। बोलने या कहें कि अभिव्यक्ति पर माध्यमों का कब्जा जम चुका है। यानी 'मास' तक पहुँचने, उनमें प्रभावकामिता पैदा करने के लिए पूँजी-पोषित माध्यम बाध्यता की तरह उपस्थित हो जाते हैं। छोटे रूपाकार की यह कविता सोशल-मीडिया जैसे प्रचलित माध्यमों पर लोकप्रिय होने की संपूर्ण संभावना प्रस्तुत करती है। पर माध्यम का प्रश्न ही इसकी अर्थ-विडंबना को जन्म देता है। यही वह सवाल है जो इसमें निहित उत्तर-उत्तरआधुनिकातावादी अंतर्विरोध को उभारता है। सोशल-मीडिया एक पूँजीवादी उपक्रम बन गया है। कविता का मर्म और मैसेज माध्यमों के बिना अपनी पहुँच और प्रभाव सुनिश्चित नहीं कर सकते। इस प्रकार, साम्यवादी आदर्श, पूँजीवादी सत्ता की गिरफ्त में आ जाते हैं। यह अनायास हो रहा है। उत्तर-उत्तरआधुनिकातावाद ऐसे ही अंतर्विरोधी, अनायास प्रयत्नों की ओर ध्यानाकर्षण करता है। साहित्यिक कृतियाँ औद्योगिक युग की शानदार उपलब्धि रही हैं। शब्दों के साथ तदाकार होने और उनसे निःसृत संदेश को ग्रहण करने के लिए जो रिक्त-समय पाठक को चाहिए, वह अब अन्य माध्यमों के दबाव में है जिसके लालच से आम पाठक का बच पाना संभव नहीं। परिणाम साफ है; वह इनसे विमुख हो रहा है। मुद्रित सामग्री के पाठक का लोप साहित्य में औसतपन का उभार करता है। उन्नत तकनीकें नए आकर्षण पैदा करती हैं। शिक्षण के क्षेत्र में देखें तो छोटे वीडियो; क्लासरूम में शिक्षकों का स्थानापन्न बनते जा रहे हैं जिनकी शुरुआत पॉवरप्वॉइंट जैसी प्रस्तुतियों से हुई थी। संगोष्ठियों का

स्वरूप ऑनलाइन होकर विश्वव्यापी आकार ले रहा है। यह परिवर्तन ज्ञान की ज्ञात प्रणालियों को ध्वस्त कर रहा है। लेखक और प्रकाशक गहरे दबाव में हैं और हाशिए का उपक्रम बनते जा रहे हैं। पाठकों का अभाव इनके दायरे तय कर रहा है। लेखन कर्म मात्र एक आत्मसाधना का खेल बनकर रह गया है। बीते दशक से ही प्रकाशक आम पाठक से विच्छिन्न होकर सरकारी खरीद पर निर्भर हो चला था। किताबें पुस्तकालयों में पहुँचकर पाठकों की प्रतीक्षा करने को विकल रहती हैं। ये प्रतीक्षा कभी-कभी ही खत्म होती है। इंटरनेट पर उपलब्ध इ-पुस्तकों, वीडियो, ध्वनि सामग्रियों आदि ने इस इंतजार को ज्यादा गहरा कर दिया है।

VI. इतिहास का अंत: किताबें, कलम और कल्पना का अवसान

‘पोरस ने सिकंदर से जो की थी लड़ाई, जो की थी लड़ाई, तो हम क्या करें’ [23]। फ्रांसिस फुकुयामा के पहले 1962 की ‘अनपढ़’ फिल्म का यह गीत बरबस हमारा ध्यान खींचता है। उत्तरआधुनिकता ने इतिहास के महात्म्य को कूड़े के ढेर पर फेंक दिया था। उत्तर-उत्तरआधुनिकता के दौर में पल्लवित होती हुई कंप्यूटर और इंटरनेट तकनीक ने लिखने-पढ़ने और ज्ञान के प्रसार की प्रचलित प्रणालियों का विध्वंस कर दिया। सूचना-प्रवाह के दबाव ने वर्तमान केंद्रिता को स्थापित कर दिया है। अतीत एक आनुष्ठानिक उपक्रम भर बनकर रह गया है। वर्तमान-केंद्रीकरण की यह प्रक्रिया स्मृतियों के विनाश पर टिकी है और तुरंतान (Immediacy) पर बल देती है। परिणामस्वरूप चलताऊ चिंतन सबसे कारगर हो जाता है। गुणवत्ता के आग्रह में कमी के कारण सोशल मीडिया और डिजिटल तकनीक से पैदा हुए गूँज-कक्षों (Echo-Chambers) की बड़ी भूमिका है। ये गूँज-कक्ष प्रस्तोता को छद्म-उत्साहधर्मिता और मिथ्या प्रशंसाओं से भर देते हैं। वे एक विशिष्ट आत्मरति एवं आत्ममुग्धता का शिकार हो, एक ‘सोशल-शीप’ (Social-Sheep) में बदल जाते हैं। एल्गोरिद्म (Algorithm) जैसी तकनीक का सहारा ले, सुविधा प्रदाता कंपनियाँ अपने निजी लाभ के लिए इस प्रवृत्ति को निरंतर बढ़ावा देती रहती हैं। प्रायः यह भी देखा गया है कि हम इस झंझड़े में रहते हैं कि हमारा फोन या लैपटॉप बंद है, तब हमें कोई देख-सुन नहीं रहा। जबकि हो इसका उल्टा रहा होता है। नई कंप्यूटर/इंटरनेट की तकनीक ने गहराई से हमारी निजता को उजाड़ दिया है। इंटरनेट का प्रयोक्ता यह महसूस कर रहा होता है कि वह नितांत अकेला और गोपन माहौल में अपना कार्य संपन्न कर रहा है। इस समय वह अपने वास्तविक मनोवैज्ञानिक परिसरों को खोल देता है। लेकिन एल्गोरिद्म जैसी प्रणाली से उसके

हरेक क्लिक को ट्रैक किया जा रहा होता है [24]। यह विडंबनापूर्ण स्थिति है जिसमें एक अदृश्य शक्ति लगातार हमारा पीछा कर रही होती है जिसका कोई एहसास तक हमारे पास नहीं होता। इंटरनेट कस्टमाइजेशन भी प्रयोक्ता की अभिरुचियों, सपनों और मनोवैज्ञानिक पहलुओं को पहचानने का ही उपक्रम है। लगभग सभी इंटरनेट आधारित मंच कस्टमाइजेशन के लिए प्रेरित अथवा बाध्य करते रहते हैं। हम कहीं न कहीं इन तकनीकों में व्यस्त रहते हैं और अपनी निजी जानकारियाँ व्यावसायिक उद्योगों, सायबर अपराधियों को अनजाने ही देते रहते हैं। यह मगनता तब भयावह रूप लेती है जब आम नागरिक अपना विवेक खोने लगता है और स्वयं-सिद्धि के एहसासों से लबरेज हो जाता है। इसी फेर में बौद्धिक वर्ग भी सम्मिलित हो जाता है जिसे एली परिसर ने ‘फिल्टर बबल’ (Filter Bubble) की संज्ञा दी है। जिसमें बौद्धिक अपने बुलबुले की दुनिया में कैद हो जाता है और स्वयं को ‘सही’ भी मानता है। यह बौद्धिक अनुभव का घनघोर संकुचन है, जिसे तकनीकी चालाकी से रचा जाता है।

वैयक्तिक जीवन के बहुतायत समय को सूचना-आधारित मंच जज्ब कर लेते हैं। इंटरनेट के घटाटोप से बच पाना निरंतर चुनौतीपूर्ण होता जा रहा है। पाठ पढ़ने के बजाय ‘पोडकास्ट’ जैसी तकनीक से सुनने में अधिक सुगम होते जा रहे हैं। ‘ऑडियो बुक्स’ की लगातार बढ़ती संख्या पढ़ने की क्षमता का लगातार हास कर रही है। सुनना, शरीर के लिए अधिक शुकूनदायी है और संदेश-ग्रहण को आसान बनाना है। इसलिए परंपरागत मुद्रित पुस्तकें अपनी आखिरी सांसें ले रही हैं। वे बहुत हद तक ‘डिजिटलीकृत’ होकर किंडल रीडर जैसे उपकरणों में समा गई है या पीडीएफ की शकल में पाइरेटड होकर हमारे मोबाइल में मचल रही हैं। उनसे धैर्यपूर्ण संवाद बनाने का अवसर कम लोगों के पास बचा है। लिखने के लिए कलम का कल्ल पहले ही हो चुका है। ज्यादातर लेखन अब इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों से ही संपन्न कर लिया जाता है। वर्तमानता के आग्रह और दबाव ने कल्पनाओं में रमण करने का अवसर भी छीन लिया है। किसी खास संवेदना के प्रगाढ़ होने से पहले ही नई घटना का सूचना-प्रवाह उसे बहा ले जाता है। हर इंटरनेट प्रयोक्ता अब लेखक, संपादक, पाठक, प्रमाता आदि की भूमिका में सक्रिय रहता है ये भूमिकाएँ प्रति क्षण द्रुतगति से बदलती रहती हैं। साधारणीकरण की यह नयी रवायत-जिसमें रसनिष्पत्ति का कोई अवसर नहीं है-उत्तर-उत्तरआधुनिकता की ही देन है।

VII. उत्तर सत्य: मानव चेतना का हास

सत्य की अवधारणा से इसे ठीक से समझा जा सकता है। मध्यकाल की सत्य संबंधी अवधारणा में सत्य अदृश्य और अलौकिक है। विज्ञान का संबल पाकर वह आधुनिक युग में दृश्यमान, वस्तुनिष्ठ, मूर्त एवं भौतिक अवधारणा के रूप में व्याख्यायित हुआ। उत्तरआधुनिक काल में सत्य आभासी संसार की सचाई बन बैठा और पाठ का अर्थ प्रीटेक्स्ट, टेक्स्ट और कंटेक्स्ट से परिभाषित होने लगा। ऐसा भी कहा गया कि किसी कथन का अंतिम अर्थ महज एक संभावना है जिसे कभी पाया नहीं जा सकता; लेकिन, उसका 'लोकस' वास्तविक जगत के ही सरोकार बने रहे। उत्तर-उत्तरआधुनिकता में सत्य आभासी दुनिया तक ही केंद्रित हो गया और उसने वास्तविकता को गौण बना दिया। ज्यां बौद्रिला ने इस पर पर्याप्त चिंतन कर 'सिमुलेशन' और 'सिमुलाक्रा' जैसी पदावली से समझाने का उद्यम किया है। 'ब्ल्यू व्हेल' नामक खेल में खिलाड़ी एक वर्चुअल दुनिया में खेलते हुए आत्महत्याएँ तक कर लिया करते थे। 'फॉरेस्ट आफ लव' और 'द गेमर' जैसी फिल्में यह दिखाने में कामयाब रही हैं कि कल्पना और यथार्थ का विलय हो चुका है। मलेशिया के एक विमानपत्तन पर उत्तर कोरिया के नेता किम-जो-उन के भाई की हत्या बड़े नाटकीय और खेल-खेल में कर दी जाती है [25] और इसी तरह सऊदी अरब के विद्रोही पत्रकार जमाल खाशोगी की हत्या को तुर्की के दूतावास अंजाम दिया जाता है [26]। डिजीलैंड, 3 डी फिल्में, 8डी म्यूजिक जैसी तकनीकें हमारी चेतना पर आधिपत्य जमाने में कामयाब हो जाते हैं। भारत के एक महान दार्शनिक शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में इस संसार को या दृश्यमान जगत को मिथ्या के रूप में परिभाषित किया था लेकिन आधुनिकता के आगमन, विज्ञान के उदय और औद्योगिक क्रांति के चलते यह ठोस दुनिया ही सत्य के रूप में स्वीकार की गई जहाँ मानव शक्ति, ईश्वर से बड़ी हो जाती है। यह अजीब संयोग है कि उत्तर-उत्तरआधुनिकता के दौर में हम पुनः सत्य संबंधी अनुसंधान के लिए शंकराचार्य जैसी उद्यमिता ही कर रहे हैं लेकिन यह प्रयत्न पूर्णतः तकनीक के उपकरण, उनके संचालन कौशल और मनुष्य के मनोभावों को 'हाईजैक' करने वाली तमाम प्रणालियों से नियंत्रित एवं निर्देशित होता है। एलन किर्बी ने कहा है कि अब हम मीडिया-तंत्र से मात्र संचार ही नहीं करते अपितु उसमें शिरकत भी करते हैं; जिसे पोर्नोग्राफी, ऑनलाइन खेलों आदि के संदर्भ में साधारणतयः सहजता से देखा जा सकता है। जब इसका अभ्यास बढ़ता चला जाता है, तब आदतगत व्यवहार और मनोवैज्ञानिक भावबोध बदल जाते हैं और वर्चुअल दुनिया ही

हकीकत लगने लगती है तथा वास्तविक दुनिया छद्म जैसी। टेलीविज़न, रेफ्रिजरेटर, ऑवेन, वाशिंग मशीन जैसे आधुनिक युग के उपकरणों ने भौतिक सुविधाओं को सुनिश्चित करने के लिए मानवीय उपस्थिति या पारिवारिक निर्भरता को लगभग सारहीन बना दिया तो उत्तर-उत्तरआधुनिक उपकरणों जैसे रोबोट्स, वर्चुअल चरित्र आदि ने भावनात्मक जरूरतों को पूरा करने की दिशा में कदम बढ़ा दिया है। यह नए मनुष्य का 'नया सत्य' होगा जो उपकरणों से आकार पाएगा। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद में इसी प्रक्रिया के विस्तार से उत्तर-सत्य की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। आम नागरिक के पास सूचना के उत्पादन, प्रसारण एवं ग्रहण के अधिकाधिक साधन उपलब्ध होते जा रहे हैं। इसके चलते सामान्य व्यक्ति भी सूचना के चक्रवात में घिरा रहता है। और यह चक्रवात कभी रुकता नहीं। इसने वास्तविक समाचारों और फेक-न्यूज़ का अंतर समाप्त कर दिया है। कई बार तो फेक-न्यूज़ अधिक ताकतवर और प्रभावशील होता है। सत्य को तनावकारी, बोरिंग तथा अनाकर्षक बनाने की लगातार कोशिशें होती हैं जिससे आम आदमी उस में अपनी अभिरुचि खोने लगता है और अंततः उसके लुप्त हो जाने की संभावना बनती है। जैसे, तोक्यो शहर में रहने वाली औरतें आपसी दबाव, विज्ञापन के प्रचार-प्रसार, कार्यालयों की आचार-संहिता के चलते भारी मेकअप करके ही बाहर निकलती है। एक शोधार्थी ने जब किसी बिना मेकअप-विहीन स्त्री को देखने का प्रयास किया तो वह प्रायः विफल ही रहा। जब साक्षात्कार या सामान्य बातचीत के लिए भी कोई स्त्री उसके समक्ष आती थी तो वह भी मेकअप करके ही उपस्थित होती थी। यदि कोई ऐसा न करे तो बाकियों को अजीब-सा लगता है। मेकअप ने वास्तविकता (चेहरों) को ढँक लिया है। गैर-वास्तविक ही परिपाटी बन गया। जीवन के अनेक क्षेत्रों में इसे आसानी से देखा जा सकता है।

विकसित होते समाजों में छद्मवादिता के कई रूप उभरते हैं, जिनसे सत्य के विलोपन का उद्यम रचा जाता है। इनमें सूचना-तंत्र, सत्ता-तंत्र, शोध संस्थान, तमाम नियामक संस्थाएँ एवं सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन आदि सम्मिलित होते हैं। डिजीटल तकनीकों ने सशक्त संपादन के ऐसे अनेक उपकरण उपलब्ध करवाएँ हैं, जिनसे-चित्र, ध्वनि, वीडियो तथा टेक्स्ट आदि की प्रतिकृतियाँ का निर्माण, उनमें मनचाहा परिवर्तन और उसे अल्पावधि में व्यापक पैमाने पर प्रसारित करने की क्षमता मिलती है। जब तक फैक्ट-चेक जैसी प्रक्रिया जाँच-पड़ताल कर तथ्यों को सामने लाती है तब तक उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अपना काम कर चुका होता है। उत्तर-सत्य में तथ्य को पीछे धकेल भावनाओं की पुनरावृत्ति कर सामाजिक मनोविज्ञान को

नियंत्रित करने का उद्यम रचा जाता है और तथ्यों से ध्यान हटाने के लिए मीडिया-तंत्र के सहारे भावनात्मक मुद्दों को लगातार परोसने का काम किया जाता है। धीरे-धीरे समाज में कुछेक मुद्दे मास हिस्टीरिया का रूप ले लेते हैं; लोग उसके लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। राजनीतिक दल, सांस्कृतिक संगठन और धर्म तंत्र से जुड़े लोग लगातार अपने स्वार्थ-लाभ के लिए ऐसी कोशिशें करते चलते हैं। सामाजिक मनोविज्ञान के नियंत्रण के दूसरे तरीके भी अपनाए जाते हैं जिनमें 'सॉफ्ट-पॉवर' की बड़ी भूमिका है। राजनीतिक सत्ताएँ, राष्ट्र, सांस्कृतिक संगठन और धर्म तंत्र ऐसे पद, पुरस्कार, अलंकरणों का विधान करते हैं जिनकी प्राप्ति को ही समाज के कुछ लोग अपना जीवन-लक्ष्य बना लेते हैं। इन पदों, पुरस्कारों एवं अलंकरणों को जनमाध्यम एवं भव्य आयोजनों द्वारा महिमामंडित किया जाता है। इनको नागरिक जीवन में ऐसे पेश किया जाता है जैसे वे सर्वाधिक महान उपलब्धि हों। तथाकथित निष्पक्षता के गाढ़े मुल्लमें से इन्हें ढँकने की कोशिशें की जाती हैं जिन्हें साधने के लिए समाज में पहले प्रतिष्ठा प्राप्त वैज्ञानिकों, लेखकों, संगीतकारों, फिल्मकारों आदि को 'जूरी' में सम्मिलित किया जाता है। अनेक शोध [27] यह दिखाने में सफल रहे हैं कि दुनिया के सभी प्रतिष्ठित पुरस्कार भारी दबाव में तय किए जाते हैं। शासन प्रणालियाँ, 'सॉफ्ट-पॉवर', की इसी बाजीगरी का इस्तेमाल कर, अनेक छद्म-पदों का सृजन करवाती हैं। इन पदों को पाने की एक गैर-वास्तविक होड़ पैदा की जाती है। इन पदों को छुद्र लालच के साथ सृजित किया जाता है। ये पद ऐसी लालसा को जन्म देते हैं जो उनसे तंत्र के विरोध में सच बोलने की क्षमता का ह्रास कर देती है। इस प्रकार 'सॉफ्ट-पॉवर' समाज में सत्य को हतोत्साहित करने का सबसे सशक्त हथियार बन जाता है, जिन्हें विभिन्न संस्थानों के सहयोग, महिमामंडन, छलीय संतोष से संपन्न किया जाता है। संचार माध्यमों, खासतौर पर सोशल मीडिया, ने छद्म चुनौतियों, झॉसई संतुष्टि और अनावश्यक व्यस्तताओं का सृजन किया है। इससे मानवीय ऊर्जा का सकारात्मक उपयोग बाधित होता है। मानव शरीर पर इसके भौतिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ते हैं। वास्तविक श्रम से उसका रिश्ता टूटने लगता है। प्रमाद एक स्थायी भाव-सा विकसित हो जाता है। इससे संघर्ष, विकास, सहयोग और आंदोलनकारिता का एक सुस्त आलस्यपूर्ण संस्करण निर्मित होता है। उत्तर-उत्तरआधुनिकता नागरिकों को कुछ इसी तरह गढ़ती है। धर्मतंत्र, विचारधाराएँ, विवाद, सत्ता और समाजसेवा-धनार्जन के उपक्रमों में तब्दील हो गए हैं। समय के अनुसार इन पर बात करने वाले समूह नए तर्क गढ़ लेते हैं। जैसे स्कू ड्राइवर के हत्ये में अलग-अलग औजार लगाकर बिल्कुल अलग ढंग का काम किया जा सकता

है जैसे विभिन्न समूह सत्ता, प्रभुता और धनकामिता के चलते एक ही विचारधारा की अलग व्याख्या और व्यावहारिकता सुनिश्चित करते हैं। अमेरिका लोकतंत्र और मानवाधिकारों का संरक्षणकर्ता दिखाई देता है जबकि गाजा पट्टी में वह इजराइल का हिमायती हो जाता है और अफगानिस्तान को अपने रहमोकरम पर छोड़ निकल लेता है। तुर्की मुसलमानों का खैरख्वाह होने का दंभ भरता है लेकिन उइगर मुसलमानों के मामले में वह चीन की निंदा करने से बचता है। चीनी कम्यूनिस्ट होने का दावा करते हैं लेकिन उनकी समूची चिंतन प्रक्रिया और उद्यमिता पूँजीवादी किस्म-की है। ऐसे अनेको उदाहरण देखे जा सकते हैं जहाँ विचारधारा, विश्वास और आस्थाएँ स्वार्थसिद्धि के उपकरण भर बनकर रह जाते हैं।

हम सब जानते ही हैं कि अनेक समस्याओं के समाधान न तो सरकारों के पास हैं और न ही जनमानस उनको स्वयं तलाश पा रहा है। ऐसी स्थिति में सत्य का संधान एक कठिन उपक्रम बन जाता है। इससे निबटने के लिए उत्तर-सत्य एकमात्र सहारा बनता है जिसमें सब कुछ झूठ नहीं है। वह विशेष परिस्थिति से जूझने की फौरी रणनीति है जो समयांतराल में अप्रसांगिक होने में ही सार्थकता पाती है।

वैज्ञानिक सत्य आधुनिकता की आधार भित्ति था। उत्तर-आधुनिकता ने इसे 'प्रबंधित सत्य' के रूप में प्रस्तावित किया। उत्तर-उत्तरआधुनिकता इस वैज्ञानिक सत्य को अधिकाधिक संदेहास्पद मानती है। उदाहरण के लिए डॉक्टर किसी दवा के सेवन की सलाह देता है। इस सलाह में डॉक्टर की क्षमता, अनुभव और ज्ञान का पैमाना तो शामिल होता ही है साथ ही किसी विशेष कंपनी से प्राप्त होने वाले कमीशन आदि से भी यह 'सलाह' प्रभावित हो सकती है। जिसे रोगी कभी जान नहीं पाता। लेकिन इसके साथ ही दवा नियामक संस्थाओं के ढीलेपन अथवा भ्रष्टाचार के चलते नकली दवा भी मार्केट में मौजूद हो सकती है जिससे दुकानदार अधिक मुनाफा कमा सके। एक आंकड़े के मुताबिक दुनिया में नकली दवाओं का कारोबार लगभग 30 बिलियन डॉलर का है [28] जिसकी चपेट में लाखों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। [29]। इस प्रकार रोग के निदान के लिए न केवल वैज्ञानिक शोध की आवश्यकता होती है बल्कि शासन के अंतर्गत आने वाले नियामक प्रतिष्ठानों की जागरूकता एवं जवाबदेही, चिकित्सकों की व्यावसायिक निष्ठा और विक्रेताओं की ईमानदारी की भी जरूरत होती है। इनमें से किसी एक कड़ी के कमजोर पड़ने से तमाम वैज्ञानिक उपलब्धि निष्फल बन जाती है। लेकिन बात आगे भी जाती है। हाल ही में कोविड-19 उपचार के लिए प्लाज्मा थिरेपी ने लगभग पूरे विश्व में एक वर्ष तक सबसे सशक्त उपचार का दावा किया। सोशल

मीडिया पर आम लोग अपनों को बचाने के लिए इसकी प्राप्ति हेतु अपने संवेदनशील कंटैक्ट विवरण साझा करते दिखे। बाद में इस उपचार को पूरी तरह निरर्थक मान पूर्णतः छोड़ दिया गया। इस बीच इसका उपचार लेने वाले कुछेक लोग बच गए और बाकी लोग मर गए। वैज्ञानिक सत्य एक साल की उम्र पाकर जादू-टोना से भी बदतर स्थिति में पहुँच गया। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना आज भी आसान है कि जिन अनेक सत्यों को हम वैज्ञानिक मान कर विश्वास कर रहे हैं वे संदेहास्पद हों और किसी विशेष एजेंडे का परिणाम हों। उदाहरण के लिए दूसरे विश्व युद्ध के दौरान इटली में प्रचारित के-सिंड्रोम कोई बीमारी नहीं थी वह यहूदियों की जाने बचाने के लिए फैलाया गया महज एक प्रोपेगंडा था। किसी खास लक्ष्य को पाने लिए दुनिया भर में कितने प्रोपेगंडा रचे जाते हैं इसकी गणना ठीक-ठीक संभव नहीं।

अब दवा की एक नई संकल्पना करते हैं। एक ऐसी दवा बना दी जाय जो बिल्कुल गैर-जरूरी हो। फिर कुछेक शोध-संस्थानों से मिलकर उसकी उपयोगिता एवं प्रभावकारिता की प्रमाणिकता सिद्ध करवाई जाय। इसके बाद प्रचार माध्यमों की मदद से इसे आम लोगों के बीच प्रचारित-प्रसारित कर खरीददारी की प्रेरणा रची जाय और लोकप्रिय बनाने के उद्यम किए जाय। उत्पाद की प्रभावकारिता नगण्य होने पर भी मीडिया-तंत्र की सहायता से उपभोक्ताओं को भ्रमित किए रखने कोशिश हो और उत्पाद अपना अस्तित्व बनाए रखेगा। दवाओं के साथ-साथ तमाम अन्य उत्पाद, पेय पदार्थ जो छद्म पोषण के दावों को रचते हैं-ब्लैक इकॉनामी का शिकार बनते हैं। बाबा रामदेव का उदाहरण लें। अपने उत्पाद की तरह वह भी एक मिश्रित व्यक्ति है। उनका व्यावसायिक मॉडल अध्ययन के योग्य है। वे तमाम सामाजिक ऊर्जा का दोहन कर अपने मॉडल को प्रस्तावित करते हैं। परंपरागत आस्थाओं के साथ आधुनिक वितरण प्रणाली का समवेत प्रयोग उनकी सफलता सुनिश्चित करता है। भारतीय मिथक से वे 'संहार' से 'सफलता' का बीजमंत्र लाते हैं। एलोपैथी जैसी आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों पर वे सीधे प्रहार करते दीखते हैं जिसके चलते उनकी आलोचना भी होती है। हरिद्वार(रुड़की) जैसे तीर्थ को उन्होंने वस्तुओं के उत्पादन के केंद्र के रूप में प्रतिष्ठित किया जिससे उनके संस्थान से उत्पादित वस्तुएँ सहज ही पवित्रता का मनोविज्ञान रचने में कामयाब हो जाती है। वे अपनी वस्तुओं के ब्रांड मैनेजर खुद ही हैं जो गेरुआ वस्त्र धारण करता है, योगी-व्यापारी, आयुर्वेदाचार्य, ब्रांड मैनेजर, प्रोपेगंडावादी की एक साथ साधना विरल उदाहरण है। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद ऐसे ही समिश्रण से सफलता के कई उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आधुनिकता औद्योगिक उत्पादों से पटा पड़ा था तो उत्तर-आधुनिकता ने सूचना-समाज [30] तथा ज्ञान-अर्थव्यवस्था [31] पर बल दिया। लेकिन वस्तुओं और उत्पादों की तुलना में सूचना और ज्ञान के छद्मीकरण की प्रक्रियाएँ आसान हो गयीं। डिजिटल तकनीकों ने इसमें आम आदमी को शिरकत करने के लिए प्रेरित किया और बाद में इसी में जज्ब कर लिया। एक प्रकार से सब लोग एक नूरा-कुशती के लिए तैयार होकर उसे ही वास्तविक संघर्ष के तौर मानने लगे और उसके आनंद में डूब गए। 'अरब स्प्रिंग' [32] जैसी सैद्धांतिकियाँ इस छद्मीकरण को और भी बढ़ाने में मददगार सिद्ध हुईं।

भारत में उत्तर-आधुनिकता के शुरुआती चिह्न विभाजन की त्रासदी के बाद देखे गए। इस त्रासदी में भी दूसरे विश्वयुद्ध जैसे भयंकर मानव-मूल्यों के हास देखे जा सकते हैं; जो धर्म की चादर में लिपटे थे। आजादी का उल्लास और देश-निकाला एक बड़ी जनसंख्या के भाग्य में एक साथ घटित हुए। लघुमानववाद, आजादी का अधूरापन, भारतीय साहित्यिक परिदृश्य के केंद्रवर्ती प्रवाह बन गए। परिणामतः भारतीय चिंताधारा आधुनिकता की उपलब्धि को प्रश्नांकित करने को विवश हुई।

VIII. उत्तर-उत्तरआधुनिकता: कृत्रिम मेधा, मशीन-मानव, मेटावर्स एवं यंत्र-शिक्षण

भाषा एवं शब्दों से संचरित ऊर्जा आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक हलचलों में गुम हो जाती है। कवि-भाषाई प्रतिभा का परिणाम था। जो भाषिक उपकरणों के इस्तेमाल में दक्ष माना जाता था। आज अभिव्यक्ति के तमाम नए उपकरणों ने अपनी जगह बनाई है जो ज्यादा ताकतवर, सक्षम, त्वरित और प्रभावशाली हैं और 'कविता' से अलग नए क्षेत्रों का उदय भी हो गया है। ऐसे में विशुद्ध पाठ-आधारित सामग्री की प्रयोजनीयता संदिग्ध हो चली है। कुल मिलाकर पुस्तकों की जगह सिकुड़ती जा रही है। वे एक छोटे समूह-विश्वविद्यालयों, अध्यापकों और परीक्षार्थियों तक सीमित होने के दबाव में हैं [32] मानव-व्यस्तता के बड़े हिस्से तकनीकी उपकरणों की गिरफ्त में आ गए हैं। शब्दों के नए अवतार प्रकट हो रहे हैं। वे पढ़त को पीछे छोड़कर ध्वनि-रूपों (Podcasts) अथवा दृश्य-रूपों (ऑनलाइन संगोष्ठियों, रील्स, एनिमेशन, वीडियो आदि) में अधिक सुगम तरीके से संप्रेषित किए जा रहे हैं। गैस ऑव वासेपुर [34] फिल्म का एक गीत है-टें, टें, टें; जो शब्दों को संगीत के बीच पूरी तरह फेट देता है। कुछ ध्वनियाँ-सी सुनाई देती हैं, लेकिन भाषा का स्पष्टीकरण नहीं होता। गीत जो भाषा और मनुष्य की अविरल चले

आ रहे संबंधों को व्याख्यायित करते थे; ध्वस्त होकर नए रूपों में प्रकट हो चले हैं। कला के अनेक उपक्रमों को कृत्रिम मेधा एवं यंत्र शिक्षण ने मानव की प्रतिभा से महारूम करने का इरादा बना लिया है जिसके स्पष्ट चिह्न हमें देखने को मिलने लगे हैं [35]। मानव रहित संवेदना का निर्माण और उसकी संचारात्मकता हमें एनीमेशन फिल्मों में लगभग एक शताब्दी पूर्व से दिखनी शुरू हो गयी थी जो अब पल्लवित होकर अनेक क्षेत्रों में व्याप्त हो चली है। मेटावर्स जैसी तकनीक जो आत्मरति, जज्ब होने का भ्रम रचने में सक्षम है, मनुष्य के सानिध्य, सहचर्य, बैठकी और विरोध-आयोजनों में वास्तविक सहभागिता को न्यूनतम करने जा रहे हैं।

‘न्यूयार्क टाइम्स’ अखबार ने हाल ही में एक रिपोर्ट प्रकाशित की है जिसमें ईरानी नाभकीय वैज्ञानिक मोहसिन फकीरजादा की कृत्रिम मेधा का इस्तेमाल कर हजारों मील दूर से ‘मोसाद’ टीम द्वारा नवंबर 2020 में हत्या [36] का विस्तृत विवरण है। ‘हवाना सिंड्रोम’ [37] तथा जैविक हथियारों के विकास [38] जैसे प्रकरण भी क्या भविष्य में मानव संहार के अदृश्य अस्त्र के रूप में प्रचलित हो जाएंगे जिनसे सत्य को कभी जाना ही नहीं जा सकेगा? तकनीक ने मानव नियंत्रण की परिधियों का व्यापक विस्तार कर दिया है। अपराध, आतंक, सत्ता-नियंत्रण, सृजनात्मकता, प्रशासनिक सुधार, आंदोलनकारिता जैसे सभी क्षेत्रों में तकनीक का वर्चस्व और आधिपत्य बढ़त बना रहा है। विडंबना यह है कि इस पर भी एक छोटे प्रभुत्व-वर्ग का ही बोलबाला बन चुका है और इसका सबसे नृशंस प्रयोग सत्ता हथियाने, विरोधियों को निबटाने या लाभ को बहुगुणित करने की लिप्सा से हो रहा है। काल्पनिक छबियाँ वास्तविक भूदृश्यों को अपदस्त कर, यथार्थ का भ्रम रचने में सफल हो रही हैं [39]। पेगासस [40] जैसे सॉफ्टवेयर समूची मानव जाति और उसकी गतिविधियों का पीछा करते हुए, उसकी निजता को उजाड़ रहे हैं। ‘डार्क वेब’ [41] और मेटावर्स [42] जैसी तकनीकें सांसारिक वास्तविकताओं को मिटाने में सन्नद्ध हैं और जो मनुष्य होने की हमारी क्षमता को नए सिरे से परिभाषित करने जा रही हैं। अनुवांशिक अभियांत्रिकी [43] हमारे मनुष्यता की जैविकी पर आघात कर रही है। मशीनी-मानव की कल्पना साकार होने की दहलीज पर खड़ी है। हाल ही में जापान के अकिहिको कोदो ने एक बिल्कुल ही काल्पनिक चरित्र हत्सु मिकु (वर्चुअल पॉप-स्टार) से 17 मार्च 2018 को शादी रचायी। वह घर पहुँच कर इसी काल्पनिक चरित्र से अपनी भावनात्मक जरूरतें पूरी करता है। ऐसे हजारों लोगों की संख्या है, जो निरंतर काल्पनिक दुनिया का चयन कर उसमें जीने की लालसा बनाते जा रहे हैं [44]।

ऐसे विदग्ध समय में संस्कृति, संचारिकी और सत्य की पारंपरिक धारणाएँ असहाय-सी खड़ी हैं।

तो, सभ्यता विमर्शकारों की टोलियाँ बड़े विखंडित तरीके से अस्तित्व और आशावादी लड़ाइयाँ लड़ रही हैं। बाजार की ताकतें-पर्यावरण प्रदूषण फैलाते हुए-नयी वस्तुओं को हमारे घरों में ठूस रही हैं तो छद्म अनुसंधित्सु आधारहीन, अप्रसांगिक, निष्प्रभावी और क्षणभंगुर शोधों से मानव मन को भरे जा रहे हैं। परिणामस्वरूप ‘अल्पतावादी’ लोग शहरों-तथाकथित विकसित, सुविधासंपन्न जगहों-को छोड़कर दूरदराज स्थानों पर रहने और सरल जीवन शैली को अपनाने के लिए प्रोत्साहित हो रहे हैं। ज्ञान की अवधारणा, विकास का मॉडल, विश्व-व्यस्था, मानवाधिकार और लोकतांत्रिक मूल्यों में उनकी आस्था अधिक नहीं बची है।

निष्कर्ष

संस्कृति, जीवन-शैली की सुविधा के रूप में भी चिह्नित की जाती रही है। इ-गवर्नेंस, डिजिटल करेंसी, सूचना, विचार और ज्ञान के विस्तार एवं प्रसार के असीमित अवसर देने के साथ, अभिव्यक्ति के जनतंत्रीकरण और उसकी वैश्विक पहुँच और प्रभाव सुनिश्चित करने, समाजीकरण के नए एहसासों को बनाने जैसे अनेक क्रांतिकारी रूपायन तकनीक के लाभकारी उद्यम के तौर पर रेखांकित किए जाते हैं। ये सच भी हैं। कार्यालयों में लंबी कतारों को रोकने, भ्रष्टाचार मिटाने, वर्क-फ्रॉम-होम जैसी सुविधाओं से सड़कों पर ट्रैफिक कम करने, ऑनलाइन कक्षाओं से महामारी में भी शिक्षण का निर्बाध संचालन, गेम एप्स से रिक्त-समय को भरने या गूगल-अर्थ जैसी सुविधाओं से दुनिया के किसी कोने तक पहुँच उसकी गलियों के नजारा देखने का लुत्फ उठाना, किसी भी भाषा का वांछित भाषा में त्वरित अनुवाद, स्पीच-टू-टेक्स्ट से टंकण की सुविधा जैसी सैकड़ों गतिविधियों का उल्लेख तकनीक की हमारे जीवन में सकारात्मक भूमिका के तौर पर किया जा सकता है। लेकिन तकनीक अपनी प्रकृति में ही द्रुत परिवर्तनशील और अपडेशन की भित्ति पर टिकी हुई है, जो बेतहाशा पूँजी की माँग करती है। इसी द्विधा का परिणाम है कि यह मानसिक शोषण, धूर्तता, कपट को परोसने को विवश हो जाती है। तथाकथित मुख्यधारा के संचार-माध्यम इसके सशक्त उदाहरण हैं। इसप्रकार-तकनीक द्वारा अभिमंत्रित-संस्कृति के परिदृश्य पर एक नई दुनिया उभर रही है। मनुष्य की जैविकता और सामाजिकता दोनों को ही तकनीकी और जनसंचारिकी से निर्मित परिवेश ने आच्छादित कर लिया है। डिजिटल डिवाइडेंड दुनिया के एक छोटे-से ताकतवर समूह ने अकूत मुनाफा कमाने, अपनी सत्ता को

बचाने, उत्पादों को विज्ञापित करने, छद्म वैचारिकी के प्रसार से सामाजिक नियंत्रण हासिल करने के उद्देश्य से जनसंचारात्मक तकनीकों का व्यापक एवं रणनीतिक प्रयोग किया है जो दूसरी ओर एक व्यापक समूह की मनोदशा को नियंत्रित कर उसे क्षुद्र संतोष और छद्ममयी आंदोलनकारिता के एहसासों से भरता हुआ उसे आत्मविमोहन का शिकार बना देता है। संस्कृति के इन तकनीकी और जनसंचारिक उपक्रमों ने सामाजिक विभाजन, विखराव और घृणा की नई सैद्धांतिकियों का सृजन कर एक छोटे समूह की हित साधना का ही उद्योग किया है। इस परिदृश्य में व्यक्ति मिथ्यावादी चादर ओढ़ लेता है और ऐसे परिपथ पर भटकने लगता है जिसपर 'चरैवेति-चरैवेति' यानी चलते रहने का बोध तो होता है पर चलना क्यों है? और जाना कहाँ है? का कुछ भी पता नहीं चलता।

तो, एक विचार के तौर पर 'तालिबान' और एक विषाणु के तौर पर 'करोना' कभी खत्म नहीं होंगे? भूमंडलीकरण के बाद की ये अनिवार्य परछाइयाँ हैं जिनके साथ मनुष्य को जीना पड़ेगा। पहले को हम 'असभ्य' और दूसरे को 'सभ्य' समाज की देन कह सकते हैं। दुनिया का सबसे ताकतवर राष्ट्र, विकसित व्यवस्था, उन्नत तकनीक-दक्ष और सबसे बड़े शस्त्रों से संपन्न 'सभ्यता' एक 'असभ्य', आधुनिक संसाधन विहीन, वनैली घाटियों और बियाबान जंगलों में रहने वाले कबीलाई समूह से बीस साल संघर्ष करने के उपरांत मुँह चुराकर भागने को विवश हो गई। अमेरिका जो धरती पर मानव जीवन शैली का मानक बना हुआ है वह एक आततायी 'विचार' और वैश्विक 'विषाणु' से परास्त हो गया। याद रखना होगा कि चंद्रयानों, मंगलयानों और अंतरिक्ष पर्यटन जैसी उपलब्धियों के साथ अमेरिकी सभ्यता के धरतीगत संकट बड़े विराट हो चले हैं। तकनीकों का पालतू होना या उन्हें पालतू बना लेना, इसका चयन ही मानवता का भविष्य तय करने वाला है। उत्तर-उत्तरआधुनिकतावाद इन्हीं विरोधाभासों, विडंबनाओं और विखंडनों को समझने का उद्यम है। तो क्या कोई उपाय नहीं बचा है? इसके सूत्र मौजूद हैं, पर वे क्षीण कर दिए गए हैं और आम नागरिक उनसे विरक्त हो चला है। अनिवार्य आध्यात्मिकता, संयम, प्रकृति का संतुलित दोहन, संचार और बाजार का सचेत उपयोग कुछ सूत्र हैं; जो मनुष्य की मानवता बनाए रखने में मददगार सिद्ध हो सकते हैं।

आभार ज्ञापन

प्रो० सुधीश पचौरी (पूर्व कुलपति, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), प्रो० राजबीर सोलंकी (पूर्व कुलपति, चौधरी रणबीर सिंह विश्वविद्यालय, हरियाणा), प्रो० राजीव अग्रवाल (प्राचार्य, देशबंधु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), प्रो० आर०एन०दुबे (प्राचार्य, भीमराव अंबेडकर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली), प्रो० मनोज कुमार सिंह (देशबंधु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) तथा भारत प्रेमी कलाविद् तोकियो हाशेगावा (नीगाता,

जापान) की प्रेरणा एवं सुझावों का परिणाम है कि यह लेख साकार हो पाया। डॉ० नरेंद्र भारती एवं सुश्री युका सतो ने बड़े श्रम से प्रूफ शोधन तथा पृष्ठ-सज्जा निर्माण में अपनी भूमिका अदा की है। दोनों का हार्दिक आभार। डॉ० अरविंद कुमार यादव मेरे शोध-पत्रों के उत्साही पाठक रहे हैं, उनके सकारात्मक सुझावों से मुझे निरंतर ऊर्जा मिलती है।

संदर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. Kirby, A. The Death of Postmodernism And Beyond, Philosophy Now, November-December 2006 Issue 58. [Alan Kirby says postmodernism is dead and buried. In its place comes a new paradigm of authority and knowledge formed under the pressure of new technologies and contemporary social forces.]
2. Gans, E. Victimary Thinking Forever?, Chronicle of Love & Resentment, No. 230, March 31, 2001
3. Hutcheon, Linda. "Postmodern Afterthoughts". Wascana Review of Contemporary Poetry and Short Fiction 37.1(2002):5-12.
4. Hutcheon, L. (2002). The Politics of Postmodernism (2nd ed.). Routledge. <https://doi.org/10.4324/9780203426050>
5. Timotheus Vermeulen, Robin van den Akker, Notes on metamodernism Journal of Aesthetics & Culture , Volume 2, 2010 - Issue 1, <https://doi.org/10.3402/jac.v2i0.5677>
6. <https://www.mgkvp.ac.in/Uploads/Contents/15/98.pdf>
7. <https://www.britannica.com/event/Industrial-Revolution>
8. https://hi.wikipedia.org/wiki/यूरोपीय_ज्ञानोदय
9. https://hi.wikipedia.org/wiki/परमाणु_बम
10. Bell, Daniel. 1999. The Coming of Post-Industrial Society. New York: Basic Books. pp. x-xi, xiv, xv-xvii.
11. Toffler, Alvin. (1980). The third wave. New York :Morrow,
12. Bell, Daniel, (1962). The end of ideology: on the exhaustion of political ideas in the fifties. New York :Free Press
13. Manuel Castells, Global Media and Communication [1742-7665(2005)1:2] Volume 1(2): 135-147
14. सिंकेदर ने पोरस से की थी लड़ाई (अनपढ़, 1962).
15. [<https://www.consumerwatchdog.org/privacy-technology/how-google-and-amazon-are-spying-you>
16. [https://en.wikipedia.org/wiki/Kim_Jong-nam
17. [https://en.wikipedia.org/wiki/Jamal_Khashoggi
18. https://en.wikipedia.org/wiki/Nobel_Prize_controversies
19. <https://www.reuters.com/article/us-pharmaceuticals-fakes-idUSKBN1DS1XJ>
20. <https://www.npr.org/sections/goatsandsoda/2017/11/29/567229552/bad-drugs-are-a-major-global-problem-who-reports>
21. <https://www.oxfordreference.com/view/10.1093/oi/authority.20110803100003718>
22. <https://blog.oup.com/2017/11/problem-knowledge-based-society/>
23. <https://www.history.com/topics/middle-east/arab-spring>
24. <https://www.careeride.com/view/social-media-is-killing-book-reading-habit-25391.aspx>
25. गैस ऑफ वासेपुर, (फिल्म, 2012). अनुराग कश्यप, निर्देशक (Tain tain to to tee tee tee teeta/Tain tain to to tee tee teeta/Tain tain tain/Tain tain tain/Tain tain tain tain ne nane tote na ne/Ti ti ti ti aa aa)
26. <https://www.dw.com/en/can-ai-create-real-art/a-48958456>
27. <https://www.timesofisrael.com/mossad-killed-irans-top-nuke-scientist-with-remote-operated-machine-gun-nyt/>
28. Baloh, Robert W. and Bartholomew Robert E. (2020). Havana Syndrome: Mass Psychogenic Illness and the Real Story Behind the Embassy Mystery and Hysteria, Springer, Switzerland
29. <https://news.stanford.edu/pr/01/bioterror117.html>
30. <https://www.thehindu.com/news/national/explained-the-operations-of-the-pegasus-spyware/article38352757.ece>
31. <https://www.wired.com/story/what-is-the-metaverse/>
32. <https://www.genome.gov/About-Genomics/Introduction-to-Genomics>

33. Barthes, Roland. "The Death of the Author." *Image / Music / Text*. Trans. Stephen Heath. New York: Hill and Wang, 1977.
34. Fukuyama, Francis. *The End of History and the Last Man*. New York: Free Press, 1992.
35. <https://plato.stanford.edu/entries/derrida/>
36. Foucault, M., & Foucault, M. (1972). *The archaeology of knowledge: And, the discourse on language*. New York: Dorset Press.
37. Lyotard, Jean-Francois. *The Postmodern Condition*. Manchester University Press, 1984.
38. Turner, Tom (1996) *City as landscape: a post-postmodern view of design and planning*. Taylor & Francis / E & FN Spon (Chapman & Hall), London, UK.
39. Dwivedi, Ram. (2020). *Your Name: A Study of Imagery and Post-Postmodernity in Cinema*. 10.13140/RG.2.2.30776.98565.
40. https://nios.ac.in/media/documents/331coursehindi/Module_5/Lesson_32_B.pdf
41. <https://doi.org/10.1080/14797585.2018.1461597>
42. <https://vpnoverview.com/privacy/anonymous-browsing/the-dark-web/>
43. <https://www.patrika.com/hot-on-web/amer-fort-some-interesting-facts-related-to-am>
44. <https://www.japantimes.co.jp/life/2022/04/25/lifestyle/akihiko-kondo-fictional-character-relationships/>